

न्यायशास्त्रे प्रमेयनिरूपणम्

*डॉ. अवधेश कुमार शर्मा

तत्त्वज्ञानाद् दुःखात्यन्तोच्छेदलक्षणं निःश्रेयसं भवतीति समानतन्त्रेऽपि प्रतिपादितम् ।

तदाह सूत्रकारः— प्रमाणप्रमेयेत्यादितत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः (न्या० सू० १/१/१) इति । इदं न्यायशास्त्रस्यादिमं सूत्रम् ।

न्याय-दर्शन में कहा गया है कि तत्त्व का ज्ञान हो जाने पर वह निःश्रेयस (मोक्ष) प्राप्त होता है जिसमें दुःखों का आत्यन्तिक उच्छेद (विनाश) हो जाता है (न्या० सू० १/१/२६) तो सूत्रकार (गौतम मुनि) ने ही कहा है— प्रमाण, प्रमेय इत्यादि पदार्थों का तत्त्व जान लेने पर निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। यह न्यायशास्त्र का प्रथम-सूत्र है। वैशेषिकशास्त्र से न्यायशास्त्र के सिद्धान्त बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं इसलिए वे एक दूसरे को समानतन्त्र कहते हैं। न्यायदर्शन का प्रथम ग्रन्थ न्यायसूत्र है जिसमें पाँच अध्याय हैं इसके प्रणेता गौतम हैं। गौतम अपने मत के दूषक व्यास (वेदान्त-सूत्रकार) के मुख को अपनी आँखों से न देखने की प्रतिज्ञा कर चुके थे। बाद में व्यास ने हाथ-पैर पड़कर उन्हें प्रसन्न किया तो गौतम ऋषि ने केवल इतनी ही कृपा की कि अपने पैरों में आँखें लगाकर उन्हें देखा। तब से गौतम को लोग अक्षपाद कहने लगे। एक दूसरी किंवदन्ती भी है कि गौतम अपने न्यायशास्त्र की धुन में तर्क करते हुए कहीं जा रहे थे। अन्तरङ्ग में इतने तल्लीन थे कि बहिरङ्ग की सुध-बुध खो बैठे-बस, न देख सकने के कारण एक कुएँ में गिर पड़े। विधाता ने इन्हें निकाला और जिससे रास्ता दिखलाई पड़ सके इसलिए पैरों में भी आँखें दे दीं। इन दोनों किंवदन्तियों का सार यही है नैयायिकों का वेदान्तियों से विरोध है तथा वे अपने शास्त्र में इतना तल्लीन रहते हैं कि बाह्य जगद का कोई पता नहीं होता । 1

न्यायशास्त्र के प्रथम सूत्र में सूत्रकार गौतम ऋषि के द्वारा 16 पदार्थों का निरूपण करते समय प्रमेय पदार्थ का विशेष उल्लेख किया है। प्रस्तुत शोधपत्र में प्रमेय एवं उसके 12 भेदों का विषय विवेचन किया जा रहा है।

संकेताक्षर — न्यायशास्त्र, निःश्रेयस, वैशेषिकशास्त्र, प्रमाण प्रमेय, गौतम ऋषि, अक्षपाद

न्याय शास्त्रस्य प्रथमे सूत्रे न्याय सूत्रकारेण गौतमेन षोडस पदार्थानां नामनिर्देश कृतम् ।

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयववर्तकनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजाति निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः 'इति' ।

सूत्रे अस्मिन् मानाधीना प्रमेय सिद्धिरिति न्यायेन प्रमाणस्य प्रथममुद्देशं कृत्वा द्वितीये क्रमे प्रमेयस्योल्लेखः कृतः विद्यते ।

प्रमेय लक्षणं कृतं तत्र सर्वदर्शन संग्रहस्य अक्षपाद दर्शने प्रस्तावे यथा— “प्रमायां यद्धि प्रतिभासते तत्प्रमेयम्” ।

तच्च द्वादश प्रकारमस्ति । यथोक्तं सूत्र गौतमेन—

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव फलदुःखापवर्ग भेदात् “ इति ।”

1. आत्मा —

द्वादशसु प्रमेयेषु प्रथमं प्रमेयम् आत्मा वर्तते। आत्मा लक्षणं वर्तते —“ज्ञानाधिकरणमात्मा” ।

न्यायशास्त्रे प्रमेयनिरूपणम्

डॉ. अवधेश कुमार शर्मा

न्याय वैशेषिकयोः अयं आत्मा द्विविधः स्वीकृतः — जीवात्मापरमात्मा च। जीवात्मा प्रतिशरीरं भिन्नं अनेकश्च वर्तते । परमात्मा तु एक एव वर्तते । सः विभुः नित्यश्चास्ति ।

मानसप्रत्यक्षेण आत्मनः साक्षात्कारो जायते किञ्चायमात्मा ? स्वविशेष गुणैः अनुमानप्रमाणेन निश्चियते ।

आत्मनि सुख दुःखेच्छा द्वेष प्रयत्न धर्माधर्म संस्काराः विशेषगुणाः भवन्ति । अयं सर्वज्ञः दृष्टा सुखदुःखयोः अनुभविता चास्ति ।

ज्ञान से युक्त आत्मा है, यह सभी को देखने वाली, सर्वज्ञ तथा सभी का अनुभव करने वाली है। यह विभु और नित्य है। ईश्वर और जीव के रूप में इसके दो भेद हैं। सर्वज्ञ ईश्वर एक ही है, जीव प्रत्येक शरीर के लिए भिन्न-भिन्न है। आत्मा के लिए कुछ चिह्न हैं, जैसे—इच्छा (जिस तरह की वस्तु से आत्मा को सुख मिलता है उसी तरह की वस्तु को इच्छा उसे होती है), द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान । दुःखप्रद वस्तु से द्वेष होता है, उन्हें हटाने या सुखद पदार्थों को लाने के लिए प्रयत्न होता है। भोग करने पर या बोध होने पर यह मालूम होता है कि यह अमुक पदार्थ है।

2. शरीरम् —

तत्र भोगायतनं शरीरम् इति शरीर लक्षणं वर्तते। आत्मनः भोगस्य आधारः शरीरं भवति । इदं च शरीरं आत्मा द्वारा नाना चेष्टानाम् इन्द्रियाणाम् इन्द्रियार्थानां च आश्रयमपि भवति ।

चेष्टा खलु ज्ञानोपादान् अपेक्षाबुद्धयोः भवन्ति । शरीरानुग्रहेण इन्द्रियाणि अनुग्रहितानि भवन्ति । शरीरोपधाते सति तानि अपि उपहतानि भवन्ति। अतः इन्द्रियाश्रयमपि शरीरमेव भवति। किञ्च इन्द्रियार्थ सन्निकर्षण जायमानं सुखदुःखादि संवेदनमपि शरीरे भवति । अतः शरीरम् अर्थस्यापि आश्रयं वर्तते ।

आत्मा के भोग का अधिष्ठान (आधार) शरीर है। शरीर विभिन्न चेष्टाओं, इन्द्रियों और उनके अर्थों का भी आश्रय है। किसी वस्तु को छोड़ने या पाने के लिए चेष्टाएँ शरीर में ही होती हैं। शरीर के अनुग्रह से इन्द्रियाँ अनुगृहीत होती हैं, उसी में कोई उपघात होने पर ये भी उपहत होती हैं— अपने-अपने अच्छे या बुरे विषयों की प्रवृत्ति दिखलाती हैं, उन इन्द्रियों का आश्रय भी शरीर ही है। शरीर रूपी आयतन में इन्द्रियों और उनके अर्थों के सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाले सुख और दुःख की संवेदना होती है। इसीलिए शरीर अर्थों का भी आश्रय है।

3. इन्द्रियाणि —

आत्मनः भोगसाधनं शरीरं संयुक्तम् इन्द्रियम् भवति ।

तच्च पञ्च विधम् ।

यथा—नेत्रम्, रसनं, घ्राणं, त्वक्, श्रोत्रम् ।

नेत्रं रूपादिनामुपलब्धि साधनमिन्द्रियं वर्तते । गन्धोपलब्धि साधनमिन्द्रियं घ्राणमस्ति ।

रसोपलब्धि साधनमिन्द्रियं रसनमिति उच्यते। स्पर्शोपलब्धि साधनमिन्द्रियं त्वक् वर्तते। शब्दोपलब्धि साधनमिन्द्रियं श्रोत्रमित्युच्यते ।

श्रोत्रञ्च कर्णविवरावच्छिन्नम् आकाशरूपमस्ति ।

इन्द्रियाँ भोग का साधन हैं जो शरीर से संयुक्त रहती हैं। ये पाँच हैं— घ्राण, रसन, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र जिनसे क्रमशः सूँघना, स्वाद लेना, देखना, छूना और सुनना ये काम होते हैं। इन इन्द्रियों में शक्तिदान करनेवाले ये हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश जिन्हें भूत भी कहते हैं।

4. अर्थ –

इन्द्रियभोग्यानि वस्तुनि अर्थाः भवन्ति। तत्र घ्राणेन्द्रियस्यार्थः गन्धः, रसनेन्द्रियस्यार्थः रसः, नेत्रेन्द्रियस्यार्थः रूपम्, त्वगेन्द्रियस्यार्थः स्पर्शः श्रोत्रेन्द्रियस्यार्थः शब्दमित्यस्ति।

तर्क भाषायाम् अर्थाः षट् पदार्थाः इत्युक्तम् । ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः सन्ति।

उपर्युक्त इन्द्रियों के द्वारा भोग्य वस्तुओं को अर्थ कहते हैं। घ्राणेन्द्रिय का अर्थ गन्ध है, रसनेन्द्रिय का रस, चक्षुरिन्द्रिय का रूप, त्वगिन्द्रिय का स्पर्श और श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द ।

5. बुद्धिः –

अर्थप्रकाशोबुद्धिः इति बुद्धेः लक्षणं वर्तते।

बुद्धिः ज्ञानमुपलब्धिं चेति त्रयमपि अनर्थान्तरं वर्तते। या बुद्धिः चेतना वर्तते। शरीरेन्द्रिय समूहैश्च भिन्नाः वर्तते।

अस्याः द्वौ भेदौ भवतः – स्मृति, अनुभवश्च ।

स्मृति – संस्कारमात्रजन्यज्ञानं स्मृतिः।

अनुभव – स्मृतिभिन्नं ज्ञानमनुभवः, अज्ञात विषयकं ज्ञानं वा अनुभवः।

बुद्धि, ज्ञान और उपलब्धि इन तीनों को गौतम अनर्थान्तर अर्थात् पर्याय मानते हैं (1/1/15) यह चेतन है और शरीर तथा इन्द्रियों के संघात से पृथक् है ।

6. मनः –

सुखादिनामुपलब्धिसाधनम् इन्द्रियं मनः इत्युच्यते ।

‘आदि’ इति पदेन दुःखादिनामपि ग्रहणं इदं मनः अन्तः करण नाम्ना अपि ज्ञायते। एतन्मनः अनुरूपमस्ति, एकस्मिन् काले एकस्यैव इन्द्रिय विषयस्य ज्ञानोत्पन्नो इन्द्रियं नियन्त्रकं भवति। अर्थात् मनः इन्द्रियेण सह संयुज्य तद् विषयकं ज्ञानमेव कारयति। येन इन्द्रियेण सम्बद्धं मनः भवति, तस्मिन् काले तदेन्द्रिय विषयस्यैव ज्ञानं जायते इत्याशयः ।

सुखादि ज्ञानों का साधन इन्द्रिय मन है। इसी को अन्तः-करण अर्थात् आन्तरिक भावों को जानने वाली इन्द्रिय भी कहते हैं। इसका चिह्न (लिंग या पहचान) है एक साथ कई ज्ञान की उत्पत्ति न होने देना । केवल इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से यदि ज्ञान उत्पन्न होता तो घ्राणेन्द्रिय का सम्बन्ध गन्ध से तथा श्रोत्रेन्द्रिय का शब्द से एक साथ होकर दोनों ज्ञान (गन्धज्ञान और शब्दज्ञान) साथ-साथ उत्पन्न होने पर ऐसा नहीं होता, क्योंकि मन नियम का रूप से पृथक् करने के लिए प्रस्तुत रहता है। मन गन्धज्ञान कराने पर ही शब्द का ज्ञान करा सकता है।

7. प्रवृत्तिः –

धर्मधर्ममयीयागादिक्रियाप्रवृत्तिः इत्युच्यते। वस्तुतः वाचिकी मानसिकी शारीरिकी च क्रिया प्रवृत्तिर्भवति । इयं प्रवृत्तिः शुभाशुभ भेदेन षड् विधा वर्तते। वात्स्यायनः उभयोः प्रवृत्तयोः दश-दश भेदान् स्वीकरोति।

1. शुभ प्रवृत्तिषु शरीरेण दानम्, रक्षणम् सेवा च वचनेन सत्यभाषणं, हितभाषणं प्रियभाषणं, स्वाध्यायश्च, मनषा, दया, अस्पृहा, श्रद्धा च गृहयन्ते। प्रवृत्तिरेष जन्मनः मुख्यकारणमस्ति।

2. अशुभ प्रवृत्तिषु हिंसा, अस्तेय, प्रतिसिद्धि, मैथुनम्, असत्यभाषणं, परुष भाषणं, सूचनं, परद्रोह, परधनहरणं नास्तिकता च गृहयन्ते।

वाचिक, मानसिक और शारीरिक क्रिया को प्रवृत्ति कहते हैं। फिर शुभ और अशुभ के भेद से छह प्रकार की हो जाती है। वात्स्यायन शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों में प्रत्येक के दस-दस भेद मानते हैं (न्या० भा० 1/1/2)। अशुभप्रवृत्तियों

में शरीर से प्रवृत्त हिंसा, अस्तेय और प्रतिषिद्ध मैथुन वचन से प्रवृत्त अनुत, परुष, सूचन (जुगली, शिकायत, निन्दा) और असम्बद्ध भाषण करना मन से प्रवृत्त परद्रोह, परधन को हड़पने की इच्छा और नास्तिकता। शुभ प्रवृत्तियों में शरीर के द्वारा दान, रक्षा और सेवा, वचन से सत्य, हित, प्रिय और स्वाध्याय, मन से दया, अस्पृहा और श्रद्धा प्रवृत्तियों के ही कारण जन्म लेना पड़ता है।

8. दोषः –

‘रागद्वेषमोहाः दोषाः’ इत्युच्यन्ते। एते दोषाः एव अस्मान् पुण्यकर्मणिपापकर्मणि वा प्रवृत्तयन्ति। यत्र मिथ्या ज्ञानं भवति तत्र रागद्वेषौ भवतः। प्रत्येकमात्मा रागद्वेषौ समवेति रागद्वेष वशादेव उत्पन्नः प्राणि कर्म करोतिः येन सुखं दुःखं वा अनुभवति जीवः।

प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाले दोष कहलाते हैं। ये तीन हैं—राग, द्वेष और मोह। ये ही ज्ञाता को पुण्य या पाप की ओर प्रवृत्त करते हैं। जहाँ मिथ्या—ज्ञान होता है वहाँ राग और द्वेष रहते हैं। इन दोषों की संवेदना प्रत्येक आत्मा को होती है। राग, द्वेष या मोह के वश में प्राणी वह काम करता है जिससे सुख या दुःख मिलता है।

9. प्रेत्यभावः –

“उत्पद्यमृत्वा च पुनर्जन्मप्राप्तिः प्रेत्यभावः” इत्युच्यते। तर्कभाषाकारः अमुमेवार्थं पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः इति लक्षणमेव उक्तवान्। अर्थात् अपवर्ग प्राप्ति यावत् जन्ममरणयोः सम्बन्धस्य आवृत्तिः प्रेत्यभावः भवति।

उत्पन्न होने के बाद मरकर फिर जन्म लेना ही प्रेत्यभाव है। उत्पन्न प्राणी का सम्बन्ध देह, इन्द्रिय, बुद्धि और संवेदना के साथ होता है। मर जाने पर ये सम्बन्ध छूट जाते हैं। जब पुनः उत्पत्ति होती है तब दूसरे शरीरादि का सम्बन्ध स्थापित होता है। जन्म—मरण के सम्बन्ध का यह अभ्यास (आवृत्ति) तब तक चलता रहता है जब तक अपवर्ग की प्राप्ति न हो जाय।

10. फलम् –

“प्रवृत्तिदोषाणाम् उत्पन्नार्थः, फलम्” इत्युच्यते। पुनर्भोगः फलम् इति अपर लक्षणम्। प्राणी यत् किमपि कर्म करोति तस्य फलं सुख दुःख रूपम् अनुभूयते। किन्तु देहेन्द्रियबुद्ध्यादिषु सत्सु एवं फलं लभ्यते।

प्रवृत्तियों और दोषों से उत्पन्न होनेवाले अर्थ को फल कहते हैं। फल में सुख और दुःख की संवेदना होती है। हम जो भी कर्म करते हैं उनमें कुछ तो सुख का फल देते हैं, कुछ दुःख का। देह, इन्द्रिय, विषय और बुद्धि के होने पर ही फल मिलता है इसलिए इन सबों को फल में गिन लेते हैं। इन फलों को लेने या त्यागने में ही सारा संसार व्यस्त है। इनका अन्त नहीं है।

11. दुःखम् –

“निसर्गप्रतिकूल वेदनीयमदुःखम्” इति दुःख लक्षणं वर्तते। पीडा वा दुःखमिति उच्यते।

दुःखं त्रिविधं भवति – आध्यात्मिकं, आधिभौतिकं आधिदैविकञ्च।

1. आध्यात्मिक दुःखम् – वातपित्तश्लेष्मणां विषमता उत्पन्न शारीरिक दुःखं किं वा कामक्रोधादिवशादुत्पन्नं मानसिकी दुःखम् आध्यात्मिकं दुःखमित्युच्यते।

2. आधिभौतिकं दुःखम् – सर्व व्याघ्रादिभिः जीवैः उत्पन्नं दुःखम् आधिभौतिकमित्युच्यते।

3. आधिदैविकम् – “यक्ष—राक्षस—पिशाच गृहादिनाम् आवेशात् उत्पन्नं दुःखम् आधिदैविकमित्युच्यते।

अन्यमतेन एक विंशति विधानि सन्ति दुःखानि तथाहि –

शरीर, षड्—इन्द्रियाणि, षड्विषयाः, षड् बुधयः, सुखं दुःखञ्च।

न्यायशास्त्रे प्रमेयनिरूपणम्

डॉ. अवधेश कुमार शर्मा

जिससे पीड़ा या सन्ताप हो वही दुःख है। जब लोग देखते हैं कि सारा संसार ही दुःख से पूर्ण है तो दुःख को हटाने की इच्छा से जन्म की दुःख के रूप में समझकर निर्विण्ण (निर्मम) हो जाते हैं, तब विरक्त होते हैं और विरक्त होने पर मुक्त भी हो जाते हैं। दुःख तीन प्रकार के हैं—आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदेविक। वात, पित्त और कफ के दोषों की विषमता से उत्पन्न शारीरिक अथवा काम, क्रोधादि से उत्पन्न मानसिक दुःखों को आध्यात्मिक कहते हैं। आन्तरिक उपायों से ही इसका निवारण सम्भव है। सर्प, व्याघ्र आदि जीवों से उत्पन्न दुःख आधिभौतिक है। यक्ष, राक्षस, ग्रहादि के आवेश से आया हुआ दुःख आधिदेविक है। ये दोनों दुःख बाह्य उपाय से ही हटाये जा सकते हैं। दूसरे मत से दुःख इक्कीस तरह के हैं—शरीर, छह इन्द्रियाँ, छह विषय, छह बुद्धियाँ, सुख और दुःख। दुःख से सम्बन्ध होने के कारण सुख भी दुःख ही है। शरीरादि दुःख के साधन हैं, इसलिए दुःख के ही अन्दर हैं। दूसरे स्थान में बाहरी दुःखसाधन 16 प्रकार के माने गये हैं— परतन्त्रता, आधि (मनःकष्ट), व्याधि, मानच्युति, शत्रु, दरिद्रता, दो स्त्री होना, अधिक पुत्रियाँ होना, दुष्ट स्त्री, दुष्ट नौकर, कुग्रामवास, कुस्वामिसेवा, वार्धक्य, परगृह में रहना, वर्षा में परदेश रहना, बुरे हल से खेती। वस्तुतः दर्शनों का मूल ही दुःख है।

12. अपवर्गः —

“मोक्षोपवर्गः” इति लक्षणम्। वस्तुतः “दुःखात्यन्ताभाव अपवर्गो अस्ति।

अतः उक्तम् — तदत्यन्त विमोक्षोमोक्षः अर्थात् तस्मात् दुःखात् आत्यन्तं मुक्तिः मोक्ष अपवर्गो वा इत्युच्यते।

जन्ममरणयोः बन्धनात् मुक्ति एव अपवर्गः, अपवर्गः फलम् वा अस्ति।

दुःखों से बिलकुल मुक्त हो जाना अपवर्ग है। मिला हुआ जीवन जब नष्ट हो जाये और अप्राप्त जीवन न मिले तभी अपवर्ग है। इस प्रकार नैयायिक अपवर्ग की व्याख्या निषेधात्मक शब्दों में करते हैं।

*सहआचार्य—संस्कृत
आयुक्तालय, कॉलेज शिक्षा, राजस्थान
जयपुर (राज.)

संदर्भ —

1. शर्मा, उमाशंकर ‘ऋषि’, सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, 2001, पृष्ठ सं. 385
2. शर्मा, उमाशंकर ‘ऋषि’, सर्वदर्शनसंग्रहः, चौखम्बा विद्याभवन, 2001, पृष्ठ सं. 395—396